सन्त रैदास चरित्र और उनका सामाजिक समरसता– संदेश

प्रो. श्यामसुन्दर शुक्ल*

भक्त प्रवर संत रैदास (रविदास) के स्थानीय अनुयायियों के अनुसार उनका प्रादुर्भाव माघ पूर्णिमा सन् 1413 ई. को हुआ था। परन्तु जालन्धर का श्री गुरु रविदास संप्रदाय रैदास जी का जन्म वर्ष 1433 ई. मानता है[1]। डॉ. शुकदेव सिंह अनेक तर्क-वितर्क के उपरान्त निष्कर्ष रूप में सन् 1418 ई. मानने के पक्ष में हैं। ये तीनों सूत्र इस बात से सहमत हैं कि उनका सम्पूर्ण जीवन लगभग 120 वर्षों का था, अर्थात् वे अपने गुरु स्वामी रामानन्द जी और गुरुभाई संत कबीर साहब की भाँति ही दीर्घजीवी थे। उनके पदों में कबीर, सदना और सेननाई के परलोक गमन का उल्लेख मिलता है। अतः रैदास जी के पूर्व ही ये लोग दिवंगत हो चुके थे। "भक्तमाल" के रचयिता श्रीनाभादास जी ने जब सन् 1500 ई. में इस ग्रंथ को पूरा किया था तब रैदास जी वर्तमान थे। अन्य प्रमाणों के आधार पर इस तथ्य की पुष्टि होती है कि रैदास जी का निधन-काल सन् 1533-1540 के बीच होना चाहिए।

पारम्परिक मान्यता के अनुसार रैदास जी के पिता का नाम 'रग्घूदास' और माता का नाम 'घुरबिनिया' बताया जाता है। "गुरु रविदास" सम्प्रदाय (जालन्धर) की मान्यता है कि रैदास जी की माता का नाम 'कलसी' और पिता का नाम 'संतोष दास' था। स्वयं रविदास जी या उनके समकालीन किसी अन्य के माध्यम से इस विषय में कोई संकेत या साक्ष्य अप्राप्त है। अतः लोक मान्यता पर ही आधारित रहने की बाध्यता है। इसी प्रकार जन्म-स्थान के विषय में भी मतभेद है। कुछ लोग इनका जन्म-स्थान वाराणसी के मँडुवाडीह के पास मड़ौली गाँव को मानते हैं। परन्तु लोक प्रसिद्धि के अनुसार अधिकांश विद्वान् एवं अनुयायी काशी में लंका-डॉफी मार्ग पर सीर-गोबर्द्धनपुर गाँव को जन्म-स्थान के रूप में मानते हैं। इस समय यहाँ एक भव्य मंदिर, सभाकक्ष, विश्रामगृह, पुस्तकालय, भोजनालय, प्रबन्ध-कार्यालय, दवाखाना, भंडारगृह तथा अन्य सभी सुख-सुविधाओं से युक्त परिसर निर्मित हो गया है। इसके पहले सदियों से एक इमली का पेड़ और छोटा-सा मंदिर ही जन्म-भूमि का संकेत था। संत रविदास जी की जाति के संबंध में प्रायः कोई मतभेद नहीं है। चँवर जाति (चमार) में प्रादुर्भूत होने का उल्लेख इन्होंने स्वयं अपने कई पदों में किया है। इनके अतिरिक्त अन्य समकालीन एवं परवर्ती लोगों ने भी अपनी रचनाओं के माध्यम से इस तथ्य की पुष्टि की है।

वाराणसी के कुछ लोग इनकी जाति 'धूसिया' मानते हैं, जो चमार जाति के एक गोत्र के रूप में मान्य है। इस विषय में इतना ही मानना पर्याप्त है कि "जाति, पाँति पूछे नहिं कोई। हरि को भजे सो हरि को होई।" जाति से चमार होकर भी रैदास के पिता और परिवार के लोग संपन्न और प्रतिष्ठित थे। इसीलिए जात्याभिमानी विप्र भी उन्हें दंडवत और प्रणाम करते थे। इस बात को रैदास जी ने गर्व के साथ कहा है। "भक्तमाल" के रचयिता नाभादास जी के परवर्ती चरितकाव्य-रचयिता श्री अनन्तदास ने रैदास जी के ऊपर विस्तार से "रैदास परिचयी" नामक काव्यबद्ध रचना की है। ये अनन्तदास संत रैदास जी के समकालीन एवं गुरुभाई और राजस्थान के गागनोरगढ़ के राजा पीपा के पौत्र थे। संत रविदास के सम्बन्ध में समाज में अनेक चमत्कार कथाएँ जुड़ गई थीं, यथार्थ भी किंवदन्तियों से आच्छादित हो गया था और उनके समकालीन अब्राह्मण कुल में उत्पन्न संतों के साथ विप्रत्व जुड़ गया था। प्रायः ऐसे सभी प्रारंभिक बड़े संतों को शिष्यों और अनुयायियों ने श्रद्धाभिभूत होकर पूर्वजन्म में ब्राह्मण होने तथा किसी चूक के कारण वर्तमान के ब्राह्मणेत्तर कुल में जन्म लेकर भी पूर्व संस्कारों को जीवित रखने की

* बी. 33/71, रोहित नगर, नरिया, वाराणसी।

मान्यता व्यापक रूप से प्रचलित थी। अतः संत रविदास के संबंध में भी इस परम्परा का अनुपालन किसी आश्चर्य की बात नहीं है।

इसके साथ ही इन संतों का संबंध किसी पूर्ववर्ती या समकालीन प्रसिद्ध गुरु से जोड़ देने की भी परम्परा चली आ रही थी। अतः रैदास जी भी इस कड़ी में जुट गये हैं। उन्होंने स्वयं तो स्वामी रामानन्द जी का प्रत्यक्ष दीक्षित शिष्य होने का उल्लेख नहीं किया है, परन्तु परवर्ती परिचयीकारों और अनुयायियों ने उन्हें रैदास जी का गुरुपद प्रदान कर ही दिया है। स्वामी रामानन्द जी द्वारा प्रवर्तित 'श्रीरामावत संप्रदाय' तथा शिष्य-प्रशिष्य परम्परा में स्वामी जी के प्रसिद्ध सगुण और निर्गुणमार्गी शिष्य सूची में रविदास जी का भी नाम सम्मिलित कर लिया जाता है। श्री स्वामीजी के 'सार्द्धद्वादश' अर्थात् साढ़े बारह शिष्यों की जो सूची प्रसिद्ध है, वह निम्न श्लोक के रूप में मान्य है–

श्रीमदनन्तानन्दस्तु सुरसुरानन्दस्तथा।
नरहर्यानन्दस्तु योगानन्दस्तथैव च।।
सुखा भवा गालवश्च सप्तैते नाम नन्दनाः।
कबीरश्च रवीदासः सेना पीपा धनस्तथा।।
पद्मावती तर्द्धश्च षडेते च जितेन्द्रियाः।।

श्री अनन्तदास की 'रैदास परिचयी' के वर्णन तथा अन्य प्रचलित किंवदन्तियों के अनुसार रैदास जी पूर्व जन्म में स्वामी रामानन्द जी के विश्वस्त सेवकों में से थे, परन्तु वे जिस दुकान से पूजा और भोग की सामग्री लाते थे, वहाँ अस्पृश्य जातियों के लोग भी सामान खरीदते थे। किसी शिष्य से यह तथ्य जानकर स्वामी जी ने शाप दिया– 'तू चमार के घर पैदा होगा'। अभिशाप-वश मृत्यु के उपरान्त पुनर्जन्म-रूप में चँवर कुल में पैदा हुए। उल्लिखित है कि शापवशात् उस कुल में पैदा होने पर भी शिशु माँ का दूध नहीं पीता था और सदा रोता रहता था। सारा कुटुंब दुःखी था। महिलाओं ने सोहर नहीं गाया, बाजा नहीं बजा, माँ-बाप चिन्तित थे कि कितनी मिन्नतों के बाद पुत्र हुआ, अब यह कैसे बचेगा? वे नामी वैद्य ले-लेकर आते थे और अनेक प्रकार की दवाएँ दी जाती थीं, परन्तु कोई लाभ नहीं हुआ। इधर स्वामी रामानन्द को अर्द्धरात्रि में आकाशवाणी सुनाई देती है, जिससे स्वामी जी को पता चला कि सीर-गोबर्द्धनपुर ग्राम निवासी रग्घूदास (राहुदास) के घर जो बेटा पैदा हुआ है, वह उनका ही भक्त और शिष्य था, जिसका यह पुनर्जन्म है। अतः उस दैवी आदेश के अनुसार उसे दीक्षा देकर मरने से बचाना उनका कर्त्तव्य है। अतः शिष्य मंडली-सहित स्वामी रामानंद वहाँ पधारे तथा उन्होंने सारे परिवार को आश्वस्त किया और शिशु को दूध पीने का आदेश दिया। कहते हैं कि उस समय उन्होंने उस बालक के सिर पर हाथ रखा, दूध पीने का आदेश दिया और माला-तिलक तथा कान में मन्त्र दिया। फलतः बालक ने दूध पीना आरंभ किया। परिवार में बधावें बजने लगे। श्री रामावत संप्रदाय की मान्यता के अनुसार स्वामी रामानंद का जन्म सन् 1356 ई. में और स्वर्गारोहण सन् 1490 ई. में माना जाता है। इस प्रकार उनकी पूर्ण आयु 134 वर्ष की होनी चाहिए। यदि यह मान्यता ठीक है तो स्वामी जी का स्वर्गवास रैदास जी के जन्म के 21 वर्ष पश्चात् हुआ था। अतः रविदास जी के साथ उनका प्रत्यक्ष संबंध जुड़ना असंभव नहीं है।

रैदास जी की जीवन-गाथा से जुड़ी अब तक प्राप्त अनेक 'जन्म साखियों' के उल्लेखानुसार 7 वर्ष की अवस्था आते-आते रैदास जी नवधा भक्ति की ओर उन्मुख हो गये थे। वे श्रद्धापूर्वक हरिभक्तों की सेवा करते और गुरु की शिक्षा से कभी न टलते। 12 वर्ष की अवस्था के होते-होते उनमें कुटुम्ब के प्रति वैराग्य उत्पन्न हो गया। घर-गृहस्थी और उद्योग-व्यवसाय की हानि से पारिवारिक भरण-पोषण के दायित्व के प्रति उनकी अनुपयोगिता और साधु-संतों के आतिथ्य-व्यय

से खिन्न होकर पिता ने उन्हें मकान के पिछवाड़े एक झोपड़ी बनवा कर और उनका हिस्सा बाँटकर उन्हें अलग कर दिया। रैदास जी ने कोई प्रतिरोध नहीं किया। वे सीझा हुआ चमड़ा मोल ले आते, पनही बनाते, जूतों की मरम्मत करते और जो कुछ द्रव्यलाभ होता, वे उससे पवित्र भोज्य सामग्री लाते, भोग लगाते, प्रसाद पाते और अभ्यागतों को भी प्रसाद देते। उनके यहाँ साधु-संतों और सत्संगियों की संख्या दिन-प्रतिदिन बढ़ रही थी। पाँच बरस तक का समय इसी रूप में बीता। उनके शरीर में खूब निखार आया। तभी एक दिन एक हरिभक्त आये। 'परिचयी' के अनुसार स्वयं भगवान ही साधु-वेश में आये थे। रैदास द्वारा उनका खूब स्वागत-सत्कार किया गया। रैदास जी ने दीन वचन बोलकर उनका पाँव पखारा। दोनों के बीच एक घड़ी कथा-वार्ता हुई और उसके बाद ज्योंनार हुआ। भोजन करके वापस जाने के पूर्व अभ्यागत महोदय ने रैदास से पूछा-"कहो भगत! तुम्हारे पास घर में तो मुझे कोई सम्पत्ति नहीं दिखाई देती, तो फिर तुम्हारा यह सदगृस्थ-धर्म कैसे चल पाता है?" रैदास कहते हैं-"मेरी सम्पत्ति तो राम जैसे राजा हैं, जिनके चरणों में लाखों लक्ष्मियाँ और सभी रिद्धि-सिद्धियाँ निवास करती हैं और जहाँ दुख-दारिद्र्य का नाम भी नहीं है।" जब उन्होने रैदास जी की यह बात सुनी तो साधु रूपी केशव प्रसन्न हुए और उन्होंने कहा, "सुनो रैदास!" तुम्हारी दरिद्रता मैं पलभर में मिटा सकता हूँ। मैंने बालपन में ही वैराग्य धारण कर लिया था। फलतः मुझे ज्ञान की प्राप्ति हुई। घूमते-फिरते जब मैं तुम्हारी और आ रहा था तो कल ही रास्ते में यह पारस पत्थर मिला। यह मेरे काम का नहीं है, परन्तु तुम्हारे लिए बहुत ही उपयोगी है। तुम इसे ले लो, मुझ पर कृपा करो। इससे जो भी लोहे का पदार्थ छू जायेगा वह निस्संदेह सोना हो जायेगा। इस प्रकार लोहे से कंचन बना-बना कर अपने उपयोग से अवशिष्ट धन जिसे चाहो, दान में भी दे सकते हो। इस प्रकार तुम्हारी भक्ति का दूना फल होगा।"

इन बातों को सुनकर रैदास जी ने विचार किया कि निश्चित ही प्रस्ताव मेरे त्याग की परीक्षा लेने हेतु है या मुझे धन के लोभ में फँसाकर मेरी भक्ति नष्ट करने के लिए है। रैदास जी को इस असमंजस में पड़े देखकर उस अतिथि ने अपनी गाँठ से पारस को अलग करते हुए कहा-"रैदास! यह मत समझना कि मैं तुम्हें छल रहा हूँ, मैं सचमुच तुम्हें दे रहा हूँ। यह देखो उस पत्थर का कमाल।" ऐसा कहकर जूतों की सिलाई के उपयोग में आने वाली एक रॉपी का उससे स्पर्श कराकर उन्होंने उसे सोने की रॉपी के रूप में परिवर्तित कर दिया। तब रैदास बोले-'भगवन्! यदि सोने से ही चित्त को शान्ति मिलती तो राजा-महराजा घर-गृहस्थी छोड़कर साधना की ओर क्यों जाते?

तब अतिथि रूपी हरि बोले, "कंचन की निन्दा मत करो, स्वर्गलोक के भवन इसी से बने हैं। भगवान स्वयं स्वर्ण-कंकण धारण करते हैं। यह सभी देवों की शोभा है। हाँ इतना अवश्य है कि सोना खर्च करके पाप-कर्म करना निन्दनीय है।" इस प्रकार बहुत समझाने पर भी रैदास ने उसे स्वीकार नहीं किया। लेकिन इस विचार से कि उनके हठ से कहीं ये अतिथि संत भगवान दुःखी न हो जायँ, उस पारस को कपड़े में लपेट कर छप्पर में रख देने का उन्होंने आग्रह किया। अभ्यागत ने सोचा कि संकोच के मारे रैदास इसे मेरे हाथों नहीं ले रहे हैं, परन्तु जरूरत पड़ने पर इसका उपयोग अवश्य करेंगे। अतः उन्होंने वैसा ही किया, जैसा रैदास जी ने कहा था।

पारस को दिए एक वर्ष बीत गये। तेरहवें महीने में वे महात्मा पुनः रैदास के यहाँ आये। वहाँ उन्हें कोई परिवर्तन नहीं दिखा। पारस के विषय में पूछने पर रैदास ने बताया कि "आपने जहाँ रखा था, वह वहीं पड़ा हुआ है। मैंने उसे देखा तक नहीं। प्रभु! आप मेरी परीक्षा ले रहे थे। मेरे लिए तो हरि का नाम ही पारस है। वे स्वयं ही पारस की खानि हैं। अन्य पारस तो माया की फाँस है।" लाचार होकर साधुवेशधारी भगवान पारस को लेकर वापस चले गये। भक्तराज रैदास को रात्रि में स्वप्न में हरि का आदेश हुआ "पूजा की पिटारी के नीचे पाँच स्वर्ण मुद्राएँ हैं। उन्हें प्रसाद मानकर स्वीकार करो और उनका उचित उपयोग करो। आगे भी इस प्रकार का प्रसाद पाने पर उसका तिरस्कार मत करना।"

सबेरे उठकर उन्होंने देखा, स्वप्न की बात सच निकली। उन्होंने सोचा कि बिना माँगे या चाहे ही इनकी

प्राप्ति हुई है, अतः इनका उपयोग साधु-सेवा में ही होना चाहिए। इस प्रकार कई माह तक पाँच-पाँच मुहरें प्रतिदिन मिलती रहीं, जिसकी सहायता से उन्होंने एक मंदिर का निर्माण कराया। साथ ही वहाँ कथा-कीर्तन तथा भंडारों आदि का आयोजन होने लगा। नगर के लोग भी दर्शन और प्रसाद के लिए बड़ी संख्या में सम्मिलित होने लगे थे।

यह सब देखकर नगर और आस-पास के ब्राह्मणों में काना-फूँसी होने लगी। ईर्ष्या-द्वेष से ग्रस्त होकर विप्रों का दल रैदास को भक्ति-भजन से रोकने के लिए उनकी कुटिया के समक्ष पहुँचा और उसमें सम्मिलित लोगों ने चेतावनी देते हुए कहा, "जे तू रहै नगर में चाहै, तो जिन कोई औरहिं बाहै।" अर्थात्—जो तू नगर में रहना चाहता है तो औरों को मार्ग-भ्रष्ट करना छोड़ दो।

उन्होंने बांधवगढ़ (रीवा) के बघेल राजा श्री वीरसिंह देव से भी शिकायत की। राजा ने उन्हें रैदास जी के विरुद्ध उपद्रव करने से मना किया, परन्तु वे शान्त नहीं हुए। तब राजा ने उन पंडितों को रैदास से शास्त्रार्थ करके अपनी बातें मनवाने की शर्त रखी। शास्त्रार्थ का आयोजन हुआ। राजा निर्णायक के आसन पर विराजे। बहुत बड़ी भीड़ कौतुक देखने को जुटी। दूबे, त्रिपाठी, चौबे, व्यास, पाठक और बाल-वृद्ध सभी झुंड के झुंड आये और गरज-गरज कर अपनी बात कहने लगे।

इसी बीच रैदास जी भी आये और दरी बिछाकर भूमि पर बैठने के उपरान्त विनम्र भाव से बोले, "मुझसे क्या चूक हुई, जो मुझे यहाँ बुलाया गया?" विप्र बोले, "तुम हमारी और हमारे धर्म की निन्दा क्यों करते हो? हम सबके गुरु और पूज्य हैं, लोग हमारे आदेशों का पालन करते हैं। तुम हमारी बातों को क्यों नहीं मानते? जब तुम शालिग्राम को हाथ से छूते हो तो वे काँप जाते हैं।" तब रैदास जी बोले, "भाइयों! लगता है कि भक्ति तुमसे बहुत दूर है। भीलनी के हृदय का भक्तिभाव जानकर ही भगवान ने उसके जूठे बेर खाये थे। इससे उनका सम्मान ही बढ़ा, उनकी निन्दा नहीं हुई। भगवान कृष्ण ने ग्वालिनियों और ग्वालबालों के जूठन खाये थे, उन्होंने ऊँच-नीच नहीं माना।"

रैदास जी ने उन्हें बताया कि महाराज युधिष्ठिर के यज्ञ में अट्ठासी हजार ब्राह्मणों के भोजन के बाद भी शंख तब तक नहीं बजा, जब तक श्वपच (शूद्र) ने भोजन नहीं किया। संत रैदास के इन तर्कों को सुनकर विप्रसमुदाय और भी चिढ़ गया, जैसे आग में घृत पड़ गया हो। उन्होंने कहा, "शूकरी सुरभी गाय नहीं हो सकती, कुत्ता स्नान के बाद भी पवित्र नहीं हो सकता, काग हंस नहीं हो सकता और काँच कंचन नहीं हो सकता। यदि शूद्र इन्द्रियजीत होगा तब भी कोई उसकी पाँव-पूजा नहीं करेगा।"

रैदास जी ने अतन्तः सच्चे भगवतप्रेम के परिणामस्वरूप भगवान कृष्ण द्वारा दुर्योधन के मेवा-त्याग और विदुर के यहाँ शाक-पात-ग्रहण का दृष्टान्त देकर पंडितों को निरुत्तर किया। कहा कि 'राम तो प्रेम के भूखे हैं। सच्चा-प्रेम जहाँ है, वहीं वे रहते भी हैं।' इस प्रकार के तर्क-वितर्क के बीच एक शर्त यह रखी गयी कि अपनी आराधना-साधना के बल पर शालिग्राम जी की मूर्ति उनके आसन से जो अपने पास बुला लेगा, वह विजयी होगा। ब्राह्मणों ने सामूहिक वेद-ध्वनि तथा गायत्री-मंत्र का लम्बे समय तक उच्च-स्वर में पाठ किया, लेकिन कोई परिणाम नहीं निकला। उसके उपरान्त रैदास जी ने "आयो आयो हो देवादिदेव तुम सरन आयौ" से आरम्भ होने वाले एक पद का तन्मयता और करुणा-भाव से अभिभूत होकर गायन किया। उनके ऐसा करने से द्रवित होकर वह मूर्ति उनकी गोद में आ गई। रैदास जी का जय-जयकार हुआ और विप्र-समुदाय लज्जित होकर वापस चला गया।

इस घटना के लगभग पाँच वर्ष बाद की बात है, एक दिन राजस्थान के झालावाड़ की राजकुमारी और चित्तौड़ नरेश राणा साँगा की धर्म-पत्नी महारानी रत्नकुँवरि (झाली रानी) के मन में विचार आया कि मैंने राज-सुख तो सभी भोग लिए, किन्तु धर्म और मोक्ष के लिए अब किसी योग्य गुरु से दीक्षा लेना आवश्यक है। कुछ जानकार लोगों से योग्य गुरु के विषय में उन्होंने जब पूछा तो उन्हें बताया गया कि "वैसे तो योग्य महात्माओं की

कमी नहीं है किन्तु आपके गुरु होने योग्य वर्तमान में काशीवासी दो पहुँचे हुए संत वर्तमान हैं। उनमें से एक जाति के जुलाहे परन्तु शुकदेव मुनि जैसे हैं, जिन्हें लोग कबीर कहते हैं। दूसरे सन्त हैं रैदास जी, जो चमार जाति में उत्पन्न होकर भी नारद के अवतार सदृश हैं। यद्यपि वे शूद्र हैं, परन्तु बड़े-बड़े राजा भी उनके दर्शन के लिए लालायित रहते हैं। वस्तुतः कबीर और रैदास श्री विष्णु के अंश सदृश हैं।"

कुछ दिनों पश्चात् झाली रानी ने दीक्षा हेतु काशी के लिए प्रस्थान किया। उनके साथ कुछ पंडित भी चले। वे सोचते थे कि रानी वहाँ चलकर उन्हीं से दीक्षा लेगी और साथ ही गंगा-स्नान का पुण्य भी मिलेगा। झाली रानी की यात्रा कुल बीस दिन में पूरी हुई। उनके द्वारा प्रेषित छः आदमी गुप्त रूप से कबीर के यहाँ संदेश देने पहुँचे कि रानी उनसे दीक्षा लेना चाहती हैं। कबीर ने सोचा कि राजा-रानी मेरे किस काम के? परन्तु झाली रानी सहसा उनके यहाँ पहुँच गईं। वहाँ फटी चटाई पर कुछ वैरागी बैठे हुए थे और छप्पर भी टूटी-फूटी थी। साथ ही वहाँ पूजा-अर्चा के सामान और देवी-देवता कुछ भी नहीं दिखाई पड़े। वहाँ का फक्कड़पना देखकर रानी निराश हुईं और लौट गईं। फिर उन्होंने रैदास जी की कुटिया में जाकर वहाँ की दशा देखने का विचार किया।

झाली रानी रैदास जी के द्वारा निर्मित शालिग्राम जी के मन्दिर का साज-शृंगार देखकर मुग्ध हो गई। वहाँ का ठाट-बाट राजसी था। अनेक महन्त और साधु रैदास जी के आस-पास बैठे थे। सत्संग, कीर्तन, भजन और आरती से आश्रम गुंजायमान था। स्वयं रैदास जी भी स्वच्छ वस्त्रों में तथा मालाओं से सुशोभित होकर मधुर वाणी में प्रवचन कर रहे थे। रानी को यह दृश्य मनोहर लगा और उन्होंने दीक्षा का मन्तव्य प्रकट किया। कार्तिक सुदी एकादशी को दीक्षा प्राप्त हुई। रानी ने सदल-बल कुछ दिन काशी में बिताकर वापस जाने के लिए प्रस्थान किया।

इस घटना के कुछ दिनों पश्चात् रैदास और सेन नाई (हुसेन नाई) संत कबीर से सतसंग करने के लिए गए। बात-चीत और तर्क-वितर्क के बीच कबीर साहब ने निर्गुण साधना का पक्ष लिया और रैदास जी तथा सेन ने सगुण का समर्थन किया। अन्ततः निष्कर्ष इस प्रकार रहा-

निरगुन सरगुन कहिये एकै। जिन कोई करि अपनी टैकै।
निरगुन ब्रह्म न हालै चालै। सरगुन धरि भगतन प्रतिपालै।
सरगुन माखन कहिये भाई। निरगुन घृत लीयो तत ताई।

चित्तौड़ जाने के कुछ महीने उपरान्त झाली रानी के मन में विचार आया कि यदि मेरे यहाँ गुरुदेव पधारते तो मुझे उनकी सेवा का अवसर मिलता, जिसके द्वार पर गुरु नहीं पधारते, उसका जीवन निरर्थक है। अतः उन्होंने कुछ सेवकों को काशी भेजा। रैदास जी के आश्रम में पहुँचकर उन्होंने झाली रानी का पत्र उन्हें दिया। रैदास जी ने उस पत्र को किसी बाँचने वाले को दिया, जिसे पढ़कर उन्हें सुनाया गया। उन्हें लगा कि रानी उनके दर्शन के लिए आतुर हैं। अतः उन्होंने परिकर के संतों के बीच मंत्रणा की। उनकी सहमति प्राप्त हुई। फिर उन्होंने गुरु के समान बड़े गुरुभाई कबीर साहब से आज्ञा लेना उचित समझकर उनसे यात्रा के सम्बन्ध में निवेदन किया। कबीर साहब की भी स्वीकृति उन्हें प्राप्त हुई।

दूसरे दिन प्रातःकाल रैदास जी ने अपने विश्वस्त संतमंडली के साथ धर्म-प्रचार-यात्रा हेतु प्रस्थान किया और कुछ शिष्यों और सेवकों को भी साथ ले लिया। यह मंडली स्थान-स्थान पर डेरा डालती, सतसंग और भजनादिक द्वारा मार्ग पर पड़ने वाले गाँवों, नगरों की जनता को लाभान्वित करती काफी दिनों के बाद चित्तौड़ के पास पहुँची। रानी को गुरु के आगमन की सूचना मिली। सर्वप्रथम चित्तौड़ के एक बाग में संतों का डेरा पड़ा। दो-तीन दिन बात रानी ने सभी को राजमहल में बुला लिया और गुरुजी के दर्शनार्थ उनके द्वारा अनेक राजाओं, मंत्रियों, महाजनों तथा गणमान्य नागरिकों को भी आमन्त्रित किया। सबको बड़ा आनन्द प्राप्त हुआ। यहाँ भी पंडितों में रोष

व्याप्त हुआ। उन्होंने रानी के समक्ष घोर आक्रोश व्यक्त किया, पर रानी ने उनकी एक न सुनी। तर्कबल से उन्हें निरुत्तर कर उन्होंने उन सबको वापस भेज दिया।

जोधपुर में रैदास जी और मंडली का भव्य स्वागत-सत्कार हुआ। फिर भी विप्रों की जिद बनी रही कि पहले उन्हें भोजन कराकर तब रैदास जी और उनकी मंडली को भोजन कराया जाय। रैदास जी ने रानी को समझाया-बुझाया और उन्हें विप्रों की इस माँग को मान लेने के लिए राजी किया। पहले ही दिन भंडारे में नगर के सात सौ ब्राह्मणों को सम्मिलित किया गया। जब वे खाने बैठे तो हर एक की बगल में रैदास जी बैठे दिखाई दिए। पंडित हैरान कि यह क्या हो रहा है? "जेता विप्र तेता रैदासा" की स्थिति थी। तब उन पंडितों में से एक रैदास जी के डेरे तक दौड़ता हुआ गया और उसने देखा कि रैदास जी वहाँ उपस्थित हैं। उसने वापस आकर अन्य लोगों को भी इसकी जानकारी दी। सभी धन्य-धन्य कहने लगे। ब्राह्मणों ने इस चमत्कार के विषय में मुँह बन्द रखना ही समझा। उन्हें डर भी लगा कि कहीं ये संतशिरोमणि उनसे रुष्ट होकर शाप न दे बैठें जिससे उनका विनाश हो जाय। उन्होंने माना कि सचमुच ये सच्चे हरिभक्त हैं।

तत्पश्चात् वे सभी मिलकर रैदास जी के यहाँ गये और उनसे क्षमाप्रार्थी हुए। संत ने कहा "आप विप्र होकर भी भगवान की महिमा से अनभिज्ञ है। मैं तो शूद्र हूँ, मुझे लज्जित क्यों करते हैं?" इतना कहकर उन्होंने कंधे से जनेऊ निकालकर दिखाया। सबने माना कि भगवान केवल भक्त ही के वश में रहते हैं। फिर सबने प्रार्थना करते हुए अपने सिर पर हाथ रखकर आशीर्वाद देने का उनसे निवेदन किया।

संभव है कि इसी यात्रा में मीराबाई ने भी उनका शिष्यत्व ग्रहण किया हो। मीराबाई का जन्म सन् 1498 ई., वैशाख शुक्ल तृतीया को हुआ था। उस समय रैदास जी 85 वर्ष के आस-पास थे। यदि मीराबाई ने रैदास जी की चित्तौड़ यात्रा में ही शिष्यत्व ग्रहण किया होगा तो मानना चाहिए कि यह यात्रा सन् 1516 ई. के लगभग हुई होगी। तब मीराबाई 18 वर्ष की रही होंगी और रैदास जी की अवस्था लगभग 103 वर्ष की रही होगी। ज्ञातव्य है कि मीराबाई का विवाह सन् 1516 ई. में राणा साँगा के द्वितीय पुत्र श्री भोजराज के साथ हुआ था। कृष्ण-भक्ति में उनकी संलग्नता से ही प्रसन्न होकर हरिभक्ता झाली रानी ने अपने 18 वर्षीय बेटे कुँवर भोजराज का विवाह मीरा के साथ किया होगा। नवपरिणीता बहू मीराबाई को राणा कुंभा द्वारा निर्मित श्रीकुंभश्याम मंदिर के प्रांगण में आयोजित संत रविदास की सत्संग सभाओं से प्रभावित होकर सास और पति की सहमति से गुरु रूप में स्वीकार करने के तथ्य को स्वीकार करने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए। उन्होंने स्वयं कहा है-"गुरु मिलिया रैदास जी, दीनी ग्यान की गुटकी। चोट लगी निज नाम हरी की, म्हारे हिवड़े माहीं खटकी।" यदि संत रविदास का परलोकवास 120 वर्ष की अवस्था में माने जाने का औचित्य प्रमाणित होता है तो मानना चाहिए कि उनकी चित्तौड़ की दूसरी यात्रा भी हुई थी जो सन् 1532-33 में हुई मानी जा सकती है। यह उनके जीवन की अंतिम मत-प्रचार-यात्रा थी, क्योंकि उसी वर्ष उनका देहावसान वहीं पर हुआ माना जाता है। कहा जाता है कि रानी झाली ने उनकी समाधि और उससे जुड़े चबूतरे का निर्माण श्री कुंभश्याम मंदिर-प्रांगण में ही कराया था जो अब भी सुरक्षित है। वहीं से विगत माघ मास में पूरे एक पक्ष के लिए संत रैदास स्मृति यात्रा समारोह के साथ उनसे जुड़े स्थानों से होती हुई उनकी जयन्ती के दिन जन्मस्थान स्मृति मंदिर सीर गोबर्द्धनपुर (काशी) पहुँचकर समाप्त हुई थी। इसमें श्रीनाथ द्वारा, राजस्थान, वृन्दावन, मथुरा, प्रयाग आदि के कई सौ संतों ने भाग लिया था और जन्म स्थान पर भारी भीड़ के बीच रविदास जी की देनों का स्मरण किया गया था।

रैदास जी गृहस्थ थे या विरस्त-इस विषय में भी निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है। 'वेलवेडियर प्रेस' (प्रयाग) से प्रकाशित 'संत-महात्माओं का जीवन चरित्र संग्रह' नामक ग्रंथ मे रैदास जी के प्रसंग में बताया

गया है कि वे गृहस्थ थे। उनकी पत्नी इनके धार्मिक कार्यों में सहयोग करती थी और जूते बेचकर मिले हुए पैसे से घर, अतिथि-सेवा और भजन-पूजन की व्यवस्था भली-भाँति करती थी। यदि रैदास जी विवाहित थे, तो उनके बच्चे भी रहे होंगे। परन्तु इसका उल्लेख न तो रैदास जी के स्वरचिच पदों और अन्य समकालीन संतों की वाणियों में इस प्रकार का कोई संकेत नहीं मिलता। अत: मान्यता अप्रमाणिक है। वास्तविकता यह है कि वे एक विरक्त संत थे।

रैदास जी द्वारा एक विप्र के माध्यम से भेजी गई सोपारी गंगाजी ने बाँह उठाकर ग्रहण किया, यह मान्यता उनके महत्त्व को बढ़ाने के लिए ही किंवदन्ती के प्रवाह में चल पड़ी प्रतीत होती है। वैसे भगवद्-भक्तों के लिए असंभव कुछ भी नहीं है, इसलिए इन मान्यताओं पर विस्मय या अविश्वास व्यक्त करना भी अनुचित ही है। इसी प्रकार "कठौती में गंगा" और काशी नरेश की रानी का स्नान करते समय एक कंगन का गंगा में गिरना तथा रैदास जी की प्रार्थना पर लहरों के ऊपर उठे हाथ द्वारा वह कंगन गंगा द्वारा सौंपा जाना भी उनकी सिद्धियों के महत्त्व को प्रमाणित करने वाले वृत्त हैं। गुरु परम्परा और शिष्य-परम्परा को विकासशील बनाये रखने के लिए श्रद्धातिरेक से प्रसूत चमत्कार-प्रदर्शन की ये बातें स्वाभाविक हैं।

रैदास जी ने अपनी बानियों में अपनी जाति, अपने परिवार और अपनी पारिवारिक स्थिति के बारे में कोई तथ्य-गोपन नहीं किया है और न तो कुछ बढ़ा-चढ़ाकर ही कहा है। अपनी जाति के विषय में भी वे स्पष्ट रूप से कहते हैं–

1. जाके कुटुंब के ढेढ़ सब ढोर ढोवंत फिरहिं अजहुँ बानारसी आस पासा।
2. नागर जनां मेरी जाति विखियात चमारं। रिदे राम गोविंद गुन सारं।
3. मेरी जाति कुट बाढ़ला ढोर ढोवंता। नितहिं बानारसी आस पासा।

चमार जाति में उत्पन्न होने पर भी रैदास जी की साधना और सिद्धि का यह प्रभाव हुआ कि प्रतिष्ठित ब्राह्मण समुदाय भी उनकी सत्संग चर्चा में आने लगा और उनके साथ सत्संग करते तथा उनसे ज्ञानोपदेश पाकर लाभान्वित होने लगा था। यह बात रैदास जी स्वयं इस प्रकार कर रहे हैं–

"आचार सहित विप्र करहिं डंडवति,
तिन तनय रविदास दासानुदासा।"

इस कथन के माध्यम से उन्होंने अपने पूर्वजों, परिवार के गौरव और स्वयं अपनी स्थिति की ओर संकेत किया है।

रैदास जी के समसामयिक एवं किंचित परवर्ती अन्य अनेक सगुण एवं निर्गुणमतालम्बी साधकों ने भी उनका और उनकी जाति का उल्लेख करके उनकी महिमा का मंडन किया है। उदाहरण के रूप में कुछ उल्लेख द्रष्टव्य हैं–

1. इतनौ है सब कुटुम हमारौ
   सेन, धना अरु नामा, पीपा, कबीर, रैदास चमारौ।।
   (- श्री व्यासजी, शिष्य श्री हितहरिवंश जी)
2. नागा, जनमित्र, नरहरि सुनार, रैदास चमार सगे मेरे।
   (मीरा ग्रंथावली, भाग-1, संपा. कल्याणसिंह शेखावत, पृ. 147)
3. मलूक, जैदेव गज-ग्राह कलँगीधरैं, सूर, रैदास, मुख नहिं मोरा।
   संत चरणदास - भक्ति सागर (पद-भाग)

झंझावातों के बीच अडिग धर्मरक्षा सेनानी संत रविदास और उनकी जाति :

प्राप्त तथ्यों के आधार पर ज्ञात होता है कि इनके दादा श्रीहरिनन्दन जी चँवरवंश में उत्पन्न होने पर भी आचार-विचार से विप्र तुल्य थे। चौथापन निकट आने पर भी इनकी पत्नी श्रीमती चित्रकौर जब निस्संतान रह गईं तब उनके आग्रह पर हरिनन्दन जी धौलागिरि के एक कोटर में तपस्यारत हुए। वहाँ एक दिन एक सिद्ध एवं वृद्ध महात्मा पधारे और उन्होंने पुत्र-प्राप्ति का आशीर्वाद देकर उन्हें घर भेज दिया। यथा समय पुत्र रूप में उत्पन्न राहु या रग्घू भी आचार-विचार से विप्रवत ही रहे। उनकी पत्नी करमावती उपनाम घुरबिनिया भी संतान-विहीन रह गई। अन्ततः उसकी प्रेरण से रग्घू भी घर छोड़कर वन में तपस्यारत हुए। कहते हैं कि 12 वर्षों के पश्चात् नारद जी उनकी तपस्थली पर पधारे और उन्होंने पुत्ररत्न-प्राप्ति का आशीर्वाद दिया। फलस्वरूप रविदास जी का प्रादुर्भाव हुआ। अतः उनमें बचपन से ही विलक्षणता वर्तमान थी।

यदि इस कथा के निहितार्थ पर विश्वास किया जाय तो संत रविदास की सारी सात्विक गतिविधियाँ तथा उनकी जीवनयात्रा से जुड़ी विचित्रताएँ स्वाभाविक ही प्रतीत होती हैं। सनातन धर्म के प्रति उनकी प्रतिबद्धता, वेद-शास्त्र-निष्ठता, गुरु-द्विज-संत के प्रति सेवा-भाव, सात्विक खान-पान, निश्छल रहनी-गहनी, कुपंथ-त्याग, अद्वेष, विराग, सबके प्रति प्रेम का व्यवहार, समदृष्टि, श्रीराम और श्रीकृष्ण की भक्ति से युक्त दैन्यभाव, दास्य-भक्ति और कभी-कभी सख्य भक्ति का मिश्रित अभिनिवेश, सत्संगति और भजन-कीर्तन में तल्लीनता, गो-गंगा-विप्र के प्रति अगाध श्रद्धा आदि विशेषताएँ उनके लिए स्वाभाविक ही प्रतीत होती हैं। उनके इन्हीं विशेषताओं और उनकी चमत्कारिक सिद्धियों के फलस्वरूप ही संत कबीर की सुपुत्री कमाली ने रैदास जी की शिष्यता ग्रहण की थी।

संत रविदास जी को इस बात का कष्ट तो था कि 'हिन्दुन में लघु जाति हमारी' फिर भी उन्हें इस बात का गर्व था कि 'बंस कल मम चोटी धारी'। उनकी दृष्टि में सच्चा विप्र वही है, जो सभी को एक समान समझे और ऊँच-नीच को भावना के प्रश्रय न दे। केवल जन्म से कोई वास्तविक विप्र नहीं होता। उसे सद्धर्म, सत्कर्म, समदृष्टि और भेद-भाव रहित ही होना चाहिए। हिन्दुओं में परस्पर जातीय विघटन के मूल में वे वंशाभिमानी एवं अन्धविश्वासग्रस्त ब्राह्मणों को ही मानते हैं। इनमें भी पुरोहिताई करने वाले और ढोंगी विप्रों के प्रति उन्हें विशेष चिढ़ थी, क्योंकि उनका काम ही है दूसरों को मार्ग-भ्रष्ट करना। उनका तर्क है कि भक्ति का आश्रय लेकर समाज में पूज्य और इतिहास में अमर होने वाले नारद, ध्रुव, प्रह्लाद, शबरी, गीध, बाल्मीकि, जामवन्त, सुग्रीव, हनुमान, गोप-गोपी, अजामिल, विभीषण और कुबरी आदि किस ब्राह्मण-कुल में उत्पन्न हुए थे?

वे प्रत्यक्ष देख रहे थे कि "धर्म सनातन डूबो जाई। बढ़ि अज्ञान रह्यो दुखदाई।" सभी वर्णों के नर-नारी लोभवश स्वधर्म-पथ का त्याग कर रहे हैं, दुष्टता एवं अभिमान समाज के कलंकरूप में पनप रहे हैं। उच्च कही जानी वाली जातियों के लोग निम्न जातियों के लोगों को तुच्छ मानकर उनका तिरस्कार कर रहे हैं, धर्म के प्रति आस्था विचलित हुई है, भय-लोभ और अविश्वास के कारण धर्म-परिवर्तन की ओर लोग बहुत बड़ी संख्या में उन्मुख है, पारिवारिक-सामाजिक एवं वैयक्तिक मर्यादाएँ तार-तार हो रही हैं, मुसलमानों की संख्या तेजी से बढ़ रही है और हिन्दू कम हो रहे हैं, बाल-विवाह एवं सतीप्रथा के साथ ही स्त्रियों के साथ कदाचार में तेजी से वृद्धि हो रही है तथा हिन्दुओं में मतवाद, संप्रदायवाद एवं जातिवाद खूब पनप रहा है।

इन सब अव्यवस्थाओं से वे व्यथित तो थे ही, साथ ही उनके मन में यह भी वेदना थी कि जिसकी शरण में जाकर उपर्युक्त नर-नारी और उनके अतिरिक्त लाखों अन्य लोग भवसागर-पार हुए, उस देवाधिदेव के शरणागत और लोग भी क्यों नहीं हो रहे हैं? उलटे, ऐसे लोगों को समाज में हँसी का पात्र समझा जाता है। स्वयं अपनी स्थिति का भी वर्णन करते हुए वे कहते हैं–

दारिद देखि सब कोइ हँसै, ऐसी दसा हमारी।
असटदसा[2] सिधि करतलै, सभ क्रिपा तुमारी।
जो तेरी सरनागता, तिन नाहीं भारु।
ऊँच-नीच तुमतें तरे, भौ सागर संसारु।।[3]

भक्ति की महिमा का बखान करते हुए अपने एक अन्य पद में वे कहते हैं कि जिस कुल का कोई सदस्य वैष्णव हो जाता है, वह चाहे जिस जाति-वर्ण का हो, ईश्वर-रूप हो जाता है। फिर तो चारो वर्णों में से उसकी नीच-ऊँच कोई भी जाति हो, उसकी जातीय आस्पद ही समाप्त हो जाता है। वह गाँव, वह कुटुंब और वह जाति धन्य है, जिसमें ऐसा रत्न उत्पन्न हुआ होता है। जातीय अभिमान या जातीय संकोच, दोनों ईश्वर-भक्ति में बाधक हैं। बिना भक्ति के ब्राह्मण भी श्वपच के समान ही है और भक्ति की शरण में आया चंडाल भी विप्र के तुल्य है। उदाहरण के रूप में महर्षि बाल्मीकि और पांडवों के यज्ञ में शंख बजने का श्रेय पाने वाले श्वपच का उदाहरण सबके संज्ञान में है।

मनुष्य को यह धारणा दृढ़ कर लेनी चाहिए (क्योंकि यही आत्यन्तिक सत्य है) कि जीवन की सीमा एक-एक दिन निकट आती जा रही है। एक दिन यहाँ से जाना ही पड़ेगा। अमर कोई नहीं है। हमारे संगी-साथी भी जा ही रहे हैं। दूर जाना है, मौत सिर पर खड़ी है। यह बहुत ही बिडंबना है कि सब देखते हुए भी लोग अपने को अमर माने बैठे हैं। साथ ही जीवन और जग जैसे अस्थिर एवं अयथार्थ को स्थिर और यथार्थ मानते हैं। सभी लोग रोटी-रोजी की अंधी दौड़ में पड़े हुए हैं। वे यह विश्वास करने के लिए तैयार नहीं है कि जिसने जन्म दिया है, वह रोटी भी देगा। फिर यह आपा-धापी, मार-धाड़ क्यों? और परस्पर ईर्ष्या-द्वेष एवं घृणा करने से क्या लाभ?

सगे-संबंधियों का व्यवहार कितना स्वार्थपूर्ण है, इसका एक चित्र रैदास जी की इन पंक्तियों से जो उभरता है, वह बड़ा ही वैराग्यमूलक है। वे कहते हैं-

ऊँचे मंदर साल रसोईं। एक घरी फुनि रहन न होईं।
यह तन ऐसा, जैसे घास की टाटी।
जलगयो घासु, रलि गयो माटी।।
भाई बंध कुटुंब सहेरा, ओइ भी लागे काढ़ि सवेरा।
घर की नारी उरहि तन त्यागी।
उहिं तउ भूत-भूत कहि भागी।
कह रविदास सभै जगु लूटिया।
हम तउ एक नाम कहि छूटिया।।[4]

ऐसे ही अनेकानेक वैराग्योत्पादक कथनों का मूलतः यही संकेत है कि काम-क्रोध-मद-लोभादि षड् विकारों में हमारी अतिशय संलिप्तता ही सामाजिक विघटन का मूल हेतु है। जबकि अन्ततः ये सभी निस्सार हैं। इन्हीं के कारण कलह, उपद्रव, जातीय एवं धार्मिक विद्वेष को जीवन-दान मिलता है। इसीलिए प्रायः सभी ज्ञानोपदेशक इनके नियंत्रण और यथासंभव उनसे मुक्त होने की बात कहते हैं।

जिस प्रकार जातीय और सामाजिक विघटनकारी आचार-विचार गर्हित हैं, उसी प्रकार धार्मिक उन्माद भी अवांछित है। जिस प्रकार जातीय उच्चता-नीचता में विश्वासघातक है, उसी प्रकार अपने धार्मिक विश्वासों को सर्वश्रेष्ठ मानकर अन्य धर्म की मान्यताओं से घृणा करना भी विघातक है। प्रायः सभी मध्यकालीन धर्माचार्यों एवं संतों के

समक्ष यह समस्या एक यक्ष-प्रश्न बनकर खड़ी रहती है, जिसका दंश हमारा समाज आज भी झेल रहा है। संत रविदास जी इसके प्रति सतत जागरूक रहे। सन् 1500 ई. के आस-पास सिकन्दर लोदी का दिल्ली को राजधानी बनाकर समूचे उत्तरी भारत पर शासन था । उसकी धार्मिक एवं साम्प्रदायिक असहिष्णुता इतिहास प्रसिद्ध है। वह साम-दाम-दंड-भेद सभी का उपयोग करके हिन्दुओं को इस्लाम धर्मावलम्बी बनाने पर कटिबद्ध था। फलतः उसने संत कबीर और रैदास जी दोनों को कारागार में निबद्ध किया था और इनकी इहलीला समाप्त करने का यथासंभव सभी प्रकार का प्रयास भी किया था।

इन संतों का अपराध यह था कि ये हिन्दू-मुसलमान दोनों को समान दृष्टि से देखते थे, दोनों को आपस में भाई-चारे के साथ रहने का उपदेश देते थे, हिन्दू समाज में व्याप्त बुराइयों की खुलकर निन्दा करने के साथ ही इस्लाम में व्याप्त कुरीतियों की भी कटु आलोचना करते थे और निष्कर्षतः वे 'ना हिन्दू ना मुसलमान' के आसन पर बैठकर सबके आचार-विचारों में सुधार के आकांक्षी थे। उनका कहना था–

एकैमिट्टी के सब भाँड़े, सभका एकै सिरजनहारा।
रविदास व्यापै एक घट माहीं सभको एकै घड़ै कुम्हारा।।

◆ ◆ ◆ ◆ ◆

रविदास इक ही नूर तें, जिमि उपज्यो संसार।
ऊँच-नीच किहिं बिधि भये, बाभन और चमार।।

◆ ◆ ◆ ◆ ◆

रविदास हमारो साइयाँ, राघव राम, रहीम।
सबही एकै रूप हैं, केसो, क्रिस्न, करीम।।

◆ ◆ ◆ ◆ ◆

रविदास कोई अल्लह कहइ, कोइ पुकारइ राम।
केसव, क्रिस्न, करीम सभ, माधव, मुकुंदह नाम।।[5]

◆ ◆ ◆ ◆ ◆

रविदास न पूजइ देहुरा, और न मस्जिद जाय।
जहँ-तहँ ईसहिं बास है, तहँ-वहँ सीस नवाय।।[6]

किस जाति में जन्म हुआ है? यह पूछना ही जाति-विद्वेष का परिचायक है और सबके जन्मदाता भगवान का अपमान है। इसलिए रविदास जी की सीख है कि–

जन्म, जाति मत पूछिये, का जात अरु पात?
रविदास पूत सभ प्रभु के, कोउ नहिं जाति-कुजात।।[7]

संत रविदास की ख्याति और उनके आचार-विचार में सूफी तत्त्वों की झलक पाकर सदन कसाई उनसे मिलने आया। यद्यपि उसके यहाँ कसाई का धंधा था परन्तु मूलतः वह भी एक फकीर जैसा ही था। सिकंदर लोदी उसका सम्मान करता था। अतः बादशाह और सदन– दोनों की दृष्टि में संत रविदास की हिन्दुओं के धर्म-परिवर्तन के मार्ग में अवरोधक की छबि बन गई थी। रैदास जी को समझने-परखने और उनकी कट्टर हिन्दूवादिता को विचलित करने का सर्वप्रथम प्रयास सदन की ओर से ही हुआ। सम्भवतः बादशाह की भी प्रेरणा इसके पीछे रही होगी। अतः कई दिनों तक तर्कपूर्ण संवाद हुआ। जहाँ सदन ने हिन्दू-धर्म की खुलकर कटु आलोचना की, वही रैदास जी ने

सनातन हिन्दू धर्म और वैष्णवता का प्रभावकारी पक्ष प्रस्तुत किया। साथ ही उन्होंने इस्लाम-धर्म की सभी न्यूनताओं को भी उजागर किया। अन्ततः सदन निरुत्तर होकर रविदास जी का शिष्य बन गया। जिसका व्यापक प्रभाव समाज पर पड़ते देख मुल्ला-मौलवी बौखला उठे। रैदास जी का वह संदेश इस प्रकार था–

सबका एक ईस करतारा। वही जगत का पालनहारा।
हिन्दू, यवनरु सिक्ख इसाई। सब आपस में भाई-भाई।।
अपने सभी नियम अनुसारा। पूजैं उसको बिबिध प्रकारा।।[8]

मौलवियों ने सदन भगत को समझाने का बहुत प्रयास किया, प्रलोभन भी दिया, डराया भी और 'करि विवाह तहँ खुल्लम-खुल्ला, सँकुचत भये मौलवी मुल्ला' की स्थिति पैदा की गई। अन्ततः उन लोगों ने बादशाह से शिकायत की। बादशाह सिकन्दर लोदी ने सदन को बुलवाया और उससे उसकी मति को फिरा देने वाले व्यक्ति का नाम, पता पूछा। उसने सब कुछ यथार्थतः बता दिया। फिर बादशाह ने काशी से रैदास भगत को बुलाकर लाने का निर्देश दिया। उनके दरबार में पेश होने पर बादशाह ने कहा– "तुम इस्लाम-धर्म की निन्दा क्यों करते हो? तुम्हारा धर्म तो वेद-पुराण जैसी गप्पबाजी की किताबों पर आधारित है। सच्चा दीन-धर्म तो इस्लाम है। इसे कबूल क्यों नहीं कर लेते?" बादशाह ने रैदास जी को पाँच ग्राम की जागीर देने का भी प्रलोभन दिया।[9] परन्तु इन सबके आगे संत रैदास जी कहाँ झुकने वाले थे? उन्होंने उत्तर देते हुए कहा–

धर्म सनातन सुद्ध पुराना। करै सभी का जो कल्याना।
कीजै भरम हृदयँ का त्यागन। करहु ग्रहन अब धर्म सनातन।।

◆ ◆ ◆ ◆ ◆

लोभ माहिं ना धर्म बिसारूँ। पग कुपंथ पर कबहुँ न धारूँ।[10]

फिर तो बादशाह ने उन्हें बहुत बुरा-भला कहा, धमकाया और गालियाँ तक दीं[11], परन्तु संत विचलित नहीं हुए और उसे ज्ञानोपदेश देते रहे। कारागार की पीड़ा सहकर और मृत्यु के मुख में जाकर भी वे अपने धर्म पर अडिग बने रहे। कहते हैं कि कुछ दिन बाद जुमा (शुक्रवार) का दिन आया। बादशाह ने नमाज अदा करने के लिए मस्जिद में गया। सिजदा के लिए जब भी गर्दन झुकाता तो उसे रविदास दिखाई पड़ते। ऐसा अन्य लोगों के साथ भी हुआ। अनिष्ट की आशंका से अन्ततः बादशाह ने रविदास को मुक्त करके काशी भेज दिया और अपने धर्म के प्रचार हेतु उन्हें पूरी स्वतन्त्रता प्रदान की।

आगे चलकर रैदास जी ने व्यापक धर्मयात्रा की। पंजाब, राजस्थान, गुजरात, महाराष्ट्र और मध्यभारत (जिममें वर्तमान मध्यप्रदेश, छत्तीसगढ़ और झारखंड सम्मिलित है) तथा उत्तर प्रदेश के प्रायः सभी तीर्थ-स्थलों में उनका डेरा पड़ा। प्रायः हर स्थान पर उनके साथ सैकड़ों लोग सम्मिलित रहे और इस प्रकार उनकी जाति के लोगों के अतिरिक्त अन्य जातियों के लोग भी उनके अनुयायी बने। संत रविदास की जाति ने हिन्दू धर्म की रक्षा और उसके प्रचार-प्रसार में अत्युल्लेखनीय योगदान दिया। आज भी उनकी जाति अपनी धर्मनिष्ठा के प्रदर्शन में पीछे नहीं है।

टिप्पणियाँ और संदर्भ

1. चौदह सौ तैंतीस की, माघ सुदी पन्द्रास।
   दुखियों के कल्याण हित, प्रगटे श्री रबिदास।।
2. असटदसा-अष्टदश अर्थात् 18 दशायें (9 रिद्धियाँ, 9 सिद्धियाँ)।

3. श्रीगुरु रविदास वाणी (बल्लां-जलन्धर वाली मूल प्रति) पृ. 68।
4. श्रीगुरु रविदास वाणी (बल्लां-जलन्धर संस्करण) पृ. 66।
5. श्रीगुरु रविदास दर्शन (जलंधर की प्रति, छं. सं.) 3-4 (पृ. सं. 96)।
6. *वही* (3-4) पृ. 96।
7. *वही* (3) पृ. 97।
8. *वही* (120) पृ. 104।
9. गप्प लखैं मोहिं वेद-पुराना। सत्य अंश ना कछू दिखाना।।
   सत्य कुरान, खुदा को मानौ। दृढ़ विश्वास हिये में आनौ।।
   धर्म ग्रहण कीजै इस्लामा।.....आदि।
10. श्रीगुरु रविदास रामायण- पृ. 97।
11. ज्ञात मोहिं तोर करतूती। सुद्ध बने और गाँठै जूती।
    जाति चमार नीच जग माहीं। अति अपवित्र तोर परछाहीं।
    पापी, नीच, अधम, अभिमानी। अपने आप बनै अति ज्ञानी।।

    ◆ ◆ ◆ ◆ ◆ ◆ ◆

    तजहु संतई बनके मुल्ला। हुक्म यही है खुल्लम-खुल्ला।
    शिखा कटाय बढ़ावहु दाढ़ी। प्रीति करौ अल्ला सों गाढ़ी।
    जो नहिं मानौ बचन हमारी। समझौ आई मौत तुम्हारी।। *वही*, पृ. 99।

●